International Research Journal of Management Science & Technology

ISSN 2250 – 1959(0nline)
2348 – 9367 (Print)

An Internationally Indexed Peer Reviewed & Refereed Journal

www.IRJMST.com
www.isarasolutions.com

Published by iSaRa Solutions

सर्जना का क्षण और दलित स्त्रियों की चुनौतियां

–प्रो0 मो0 हसीन खान

(विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग–श्री गाँधी पी0जी0 कॉलेज मालटारी, आजमगढ)

आधुनिकता, आधुनिकता बोध और आधुनिकतावाद–सम्बन्धी बहस हिन्दी लेखकों के बीच काफी दिनों से चली आ रही है। आधुनिकता की प्रक्रिया अपने खास ढंग से पूरे भारतीय सन्दर्भ में आज भी जारी है। यह स्थिति पश्चिम से थोड़ी भिन्न है और इसलिए ठेठ भारतीय भी। यह एक विकासशील देश की अपनी बनावट और उसकी खास जरूरतों का महत्वपूर्ण हिस्सा है, जिसे सही सन्दर्भों में रखकर देखा जाना चाहिए। हिन्दी में आधुनिकता शब्द के विकास का भी लम्बा इतिहास है। यह याद रखना जरूरी है कि हिन्दी मानस ने आधुनिकता शब्द को भी स्वीकार किया है, आधुनिकतावाद को नहीं। 1950 के दशक में आधुनिकता के साथ–साथ आधुनिकता बोध का उपयोग भी मिलता है, परन्तु जाने या अनजाने नयी हिन्दी कविता की आलोचना के सन्दर्भ में आधुनिकतावाद पद के प्रयोग से प्रायः बचने का प्रयास किया गया है। यह महत्वपूर्ण लगता है। व्यापक प्रयोग में किसी शब्द का ग्रहण या परित्याग कभी भी आकस्मिक नहीं होता। हिन्दी में आधुनिकता शब्द का पहला प्रयोग कब और किसने किया, इसकी ठीक–ठीक जानकारी हमें नहीं है। आधुनिक साहित्य के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविता पर टिप्पणी करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा कि 'पर उनकी कविता के विस्तृत संग्रह में आधुनिकता कम ही मिलेगी।' इससे स्पष्ट है कि हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य शुक्ल जी आधुनिक या आधुनिकता से क्या अर्थ लगाते थे? आधुनिकता कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि वह एक लम्बी विकास–प्रक्रिया का परिणाम है। मुक्ति–आन्दोलन के समानान्तर और कई बार उसके आगे–पीछे यह प्रक्रिया पुराने मूल्यों से टकराती हुई और उन्हें छिन्न–भिन्न करती हुई अपने ढंग से चुपचाप चलती रही है। हिन्दी साहित्य में यह लड़ाई दो मोर्चों पर लड़नी पड़ी–पहले भाषा के मोर्चे पर और लगभग उसी के साथ–साथ संवेदना और विचार के मोर्चे पर भी। भाषा को आधुनिक बनाने का काम अधिक लम्बा और अधिक जटिल था। लोक–व्यवहार में वह अपने ढंग से घटित हो रहा था। काव्य भाषा को उस लोक–स्पन्दन तक पहुंचने में थोड़ा समय लगा। स्वाधीनता के बाद आधुनिकता को लेकर जो बहसें हुईं–उनमें स्पष्टतः दो खेमे बनते हुए दिखायी पड़े। एक वर्ग वह था, जो मानता था कि आधुनिकता एक तरह का संकटबोध है–लगभग उसी तरह जैसे वह पश्चिम के साहित्य में दिखायी पड़ता है। इस वर्ग ने माना कि आधुनिकता औद्योगीकरण की अतिशयता और महानगरीय एकरसता की उपज है। दिलचस्प यह है कि यह बातें उस समय कही गयीं, जब बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण की शुरुआत अभी हो ही रही थी और जिन्हें हम आज महानगर कहते हैं, वे अपनी नगरीय सीमा को तोड़ने के लिए छटपटा रहे थे। मुक्तिबोध ने इस सन्दर्भ में एक प्रश्न यह उठाया कि 'नयी हिन्दी कविता में जो आधुनिक भाव–बोध है, वह पश्चिमी जगत के व्यक्तिवादी–निराशावादी दर्शन से अनुप्राणित है या भारत के अपने भविष्य–स्वप्न से?' हमारे सांस्कृतिक जीवन पर जो औपनिवेशिक दबाव अभी तक बना हुआ था, उसके चलते हमें इस एहसास तक पहुंचने में लम्बा समय लगा कि दुनिया के अन्य भूभागों में जो घटित हो रहा है, उससे हमारे स्रोत और संवेदना के तार कहीं–न–कहीं मिलते हैं।

यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक विकास क्रम में समकालीनता, आधुनिकता की अगली कड़ी है। दोनों के अन्तर्सम्बन्ध निरन्तर बने हुए हैं। यह वही समय है, जब दलित साहित्य का अस्तित्व सामने आया और दलितों ने अपने अनुभव और आत्मसाक्षात्कार को व्यक्त करना आरम्भ किया। छायावादी काल में अछुतानन्द हरिहर ने भी एक महत्वपूर्ण कविता लिखी थी। आधुनिकता और उसके आगे समकालीनता समय का अनुभव और एहसास है। इस अनुभव और एहसास को व्यक्त करने के लिए गैर दलित लेखक अपने औजारों का प्रयोग कर रहे थे और दलित लेखक अपने औजारों की तलाश भी कर रहे थे और उसे तराश भी रहे थे। इसलिए आधुनिकता के दर्पण

में दलित स्त्रियों की चुनौतियों को समझने के लिए दलित चेतना और समूचे स्त्री विमर्श को साथ–साथ समझना आवश्यक है। अलग से दलित स्त्रियों की चुनौतियों को रेखांकित करना सम्भवतः अतार्किक होगा क्योंकि दलित स्त्रियों का लेखन बहुत कम मात्रा में सामने आया है।

जब हम स्त्री–विमर्श की चर्चा करते हैं तो उसे या तो स्त्रीवाद से प्रभावित मानकर, उसके स्वतत्र स्वरूप को शब्दबद्ध नहीं कर पाते या फिर संकुचित दृष्टिकोण से देखते हुए उसे मात्र साहित्य का विमर्श मान लेते है, जबकि यह विमर्श स्त्री को व्यापक दृष्टिकोण से देखता है, मात्र साहित्यिक दृष्टि से नहीं। रामकमल राय ने लिखा है कि ''स्त्री–विमर्श सामान्यतः साहित्य से सम्बन्धित विमर्श माना जाता है, लेकिन स्त्री–विमर्श मात्र साहित्य की आलोचना का दृष्टिकोण नहीं है, बल्कि मानव समाज में स्त्री की सामाजिक–आर्थिक एवं राजनीतिक हैसियत के बारे में व्यापक दृष्टिकोण का विमर्श है।''[1] समाज की विसंगतियों से ही स्त्री अपने हक के लिए संघर्ष करने के लिए मजबूर हुई। चाहे वह स्त्री भारत की हो या पाश्चात्य जगत की क्योंकि स्त्री का वर्ग, समूह, जाति, नस्ल या देश कोई भी हो, स्त्रियों की भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, भाषिक और अस्मिता–सम्बन्धी समस्याएं एक सी ही हैं। इसीलिए स्त्रियों के मुक्ति–संघर्ष में सार्वभौम भगिनीवाद की आवाज सुनायी देती है। जो विचार या विमर्श देश की मांग के अनुसार पनपा, उसे तो देशज ही कहा जाएगा। जगदीश्वर चतुर्वेदी ने लिखा है कि ''भारत में स्त्री के अधिकारों के विचारों का उदय स्वाभाविक सामाजिक–राजनीतिक संघर्षों के दौरान हुआ और ये विचार जितने विदेशी नजर आते हैं, उतने ही देशी नजर आते हैं, विचारों की परम्परा की खूबी यही होती है कि जो विचार सामाजिक अन्तर्विरोधों की सृष्टि होते हैं और अन्तर्विरोधों का समाधान देते हैं, वे हमेशा देशज होते हैं।''[2] स्त्री विमर्श का पाश्चात्य जगत में अपना अस्तित्व, पहचान और स्वरूप है। भारतीय स्त्री–विमर्श को इसका अंधानुकरण मानना, इसके साथ अन्याय करना है क्योंकि भारत में स्त्री–विमर्श भारतीय समाज की विसंगतियों से जन्मा है, जिसकी अपनी मांग और अपनी समस्याएं हैं। ऐसा भी नहीं है कि भारतीय स्त्री–विमर्श पाश्चात्य स्त्री–विमर्श से बिल्कुल प्रभावित न हो। बेशक समय और समाज के अनुसार स्त्री के मुक्ति–संघर्ष की शक्ल दूसरी है। अतः यह कहना उचित होगा कि पाश्चात्य स्त्रीवाद या स्त्री–विमर्श से प्रभावित अपनी मौलिक ऊर्जा के साथ भारतीय परिवेश के अनुकूल जिस विचार का जन्म हुआ, उसे भारतीय स्त्री–विमर्श कहा गया। जब हम स्त्री विमर्श की चर्चा करते हैं तो उसे या तो स्त्रीवाद से प्रभावित मानकर या उसके स्वतंत्र स्वरूप को शब्दबद्ध नहीं कर पाते या फिर संकुचित दृष्टिकोण से देखते हुए उसे मात्र साहित्य का विमर्श मान लेते हैं, जबकि स्त्री–प्रश्न को व्यापक दृष्टिकोण से देखने की जरूरत है। केवल साहित्यिक दृष्टि से स्त्री–विमर्श को नहीं देखा जा सकता।

स्त्री–विमर्श का मुख्य उद्देश्य स्त्री की मुक्ति का स्वप्न, संकल्प और संघर्ष है। इसमें मात्र स्थिति का चित्रण नहीं होता, बल्कि उन पक्षों को भी उठाने का प्रयास होता है, जो अब तक समय और समाज की समझ से परे हैं। ऐसे तथ्यों से ही उसका संघर्ष है–स्त्री–विमर्श स्त्री के जीवन के अनछुए–अनजाने पीड़ा जगत के उद्‌घाटन के अवसर उपलब्ध कराता है, परन्तु उसका उद्देश्य साहित्य एवं जीवन में स्त्री के दोयम दर्जे की स्थिति पर आंसू बहाने और यथास्थिति बनाए रखने के स्थान पर उन कारकों की खोज से है, जो स्त्री की इस स्थिति के लिए जिम्मेदार है। वह स्त्री के प्रति होने वाले शोषण के खिलाफ संघर्ष है। डॉ. सीमा ओझा ने लिखा है कि ''स्त्री–विमर्श मात्र स्त्री–पुरुष बराबरी की आवाज नही है। स्त्री–विमर्श केवल स्त्री की मुक्ति या पुरुष की बराबरी का आख्यान नहीं है, बल्कि अत्यन्त गहन अर्थ वाला यह शब्द नारी–मुक्ति के साथ–साथ नारी की अस्मिता, चेतना व स्वाभिमान को भी अपने में समेट लेता है। स्त्री को उसके अपने शरीर, अपने अस्तित्व या जीवन के स्वरूप पक्ष को ग्रहण करके आत्मनिर्णय की ताकत प्रदान करना स्त्री–विमर्श का प्रमुख लक्ष्य है।''[3] स्त्री–विमर्श का स्वप्न स्त्री–मुक्ति है, जो स्त्री की अस्मिता, अस्तित्व, चेतना को अपने स्वप्न में समेटे हुए है। अपने हक, स्वतंत्रता का अधिकार और अपनी पहचान को संकटग्रस्त देखकर उसे अपने अस्तित्व के लिए आवाज उठानी पड़ी। इसीलिए स्त्री–विमर्श के स्वर में प्रतिरोध भी मौजूद है और यह प्रतिरोध वर्तमान समय से ही, नहीं, बल्कि सदियों से चला आ रहा है, जो स्त्री के शोषण, उत्पीड़न एवं व्यवस्था के खिलाफ है।

स्त्री–विमर्श के प्रभाव से ज्ञान का कोई क्षेत्र अछूता नहीं है क्योंकि ज्ञान से ही नवीन नजरिया प्राप्त हुआ। साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। साहित्य में स्त्री–विमर्श की गूंज सुनायी देने लगी।

पिछले कुछ समय से साहित्य की दृष्टि भी स्त्री के प्रति बदली है, इसमें लेखक तथा लेखिकाओं दोनों का मुख्य किरदार है क्योंकि साहित्य में स्त्री–विमर्श थोपा नहीं जाता, बल्कि साहित्य में स्त्री–विमर्श सहजात रूप में आता है, किन्तु क्या यही बात दलित स्त्रियों के विषय में कहा जा सकता है? आज दलित लेखन में भी रमणिका गुप्त, सुशीला टाकभौंरे, रजनी तिलक, निर्मला पुतुल जैसी दलित और आदिवासी लेखिकाओं को छोड़ दिया जाए तो कितनी स्त्रियां हैं, जो अपनी पीड़ा, अपने जीवनानुभव और अपने समय की विसंगतियों को व्यक्त कर पा रही हैं? कितने ऐसे दलित लेखक हैं, जो उनकी विवशताओं, उनकी समस्याओं और उनकी दर्द भरी कहानियां लिख रहे हैं। स्वानुभूति और सहानुभूति का प्रश्न भी यहां नहीं खड़ा होता। यह सही है कि स्त्री–विमर्शकारों ने स्त्री की परम्परागत छवि को बदला है, लेकिन क्या दलित स्त्रियों की समानता के लिए कोई आन्दोलन छेड़ा गया? कोई मौलिक प्रश्न खड़ा हुआ, आखिर दलित लेखक दलित लेखिकाओं के लिए यह बात पूरी ताकत से क्यों नहीं कहते कि 'राख ही जानती है जलने दर्द' या 'जिनके पांव न फटे बेवाई वे क्या जाने पीर पराई।' बहुत पहले कॉलरिज ने कहा था कि ज्ञान पुरुषवाची है और संवेदना स्त्रीवाची। इन दोनों तत्वों के मिश्रण से ही सर्जना के क्षण उत्पन्न होते हैं। स्त्री लेखन के लिए स्त्री होना जरूरी नहीं, स्त्री या पुरुष कोई भी स्त्री के सम्बन्ध में लिख सकता है। स्त्री–विमर्श के सन्दर्भ में लिखने के लिए, स्त्री–दृष्टि महत्वपूर्ण है। आखिर दलित लेखकों ने स्त्रियों की समस्याओं को, उनकी चुनौतियों को आधुनिकता के सन्दर्भ में उस तरह क्यों नहीं प्रस्तुत किया, जिस तरह अपनी समस्याओं और आत्मसाक्षात्कारों को वे व्यक्त करते हैं। समकालीन समय में भूमण्डलीकरण, उपभोक्तवाद और बाजारवाद की संस्कृति इतनी बहुआयामी और ताकतवर रूप में उभरी है कि इससे संसार का कोई देश, समाज और ज्ञान का कोई भी क्षेत्र अप्रभावी नहीं है। स्त्री–विमर्श भी इसका अपवाद नहीं है क्योंकि भूमण्डलीकरण के दौर में स्त्री और स्त्री–विमर्श के सामने समस्याएं और चुनौतियां चेहरा बदलकर आ रही हैं।

यह सामान्य धारणा है कि दलित स्त्रियां गैर दलित स्त्रियों से ही नहीं, बल्कि दलित पुरुषों से भी अधिक श्रम करती हैं, किन्तु उनके श्रम को जो आदर और सम्मान मिलना चाहिए, वह मिलता नहीं है। डॉ. मनैजर पाण्डेय कहते हैं कि भारतीय समाज का यथार्थ जानने के लिए उसके मूलाधार को समझना जरूरी है, जाति और वर्ग की समझदारी के सन्दर्भ में भारतीय समाज को समझने के लिए वर्ग और वर्ण को साथ–साथ ध्यान में रखना जरूरी है। हमारे यहां जो लोग केवल वर्ग की धारणा के आधार पर भारतीय समाज की संरचना को समझने की कोशिश करते हैं, वे वर्ण और जाति की वास्तविकता की उपेक्षा करते हैं और इस प्रक्रिया में भारतीय समाज की अधूरी समझ सामने लाते हैं।''[4] भारतीय समाज में लैंगिक भेदभाव और पितृसत्तात्मक प्रवृत्ति की स्थितियों का साहित्य और लेखन–चिंतन में काफी असर दिखता है। औरतों की पराधीनता का सवाल वर्ग ही नहीं, वर्ण की सीमा को भी पार करता है क्योंकि केवल उच्च वर्ग और उच्च वर्ण की स्त्रियां ही पराधीन नहीं होतीं, दलितों की स्त्रियां भी पराधीनता और गुलामी की यातनाएं सहती हैं। यह अकारण नहीं है कि दलित समुदाय की जिन लेखिकाओं ने अपने समुदाय की आर्थिक–सामाजिक पराधीनता के बारे में लिखा है, उन्होंने अपने समुदाय के भीतर स्त्रियों की पराधीनता और यातना पर भी ध्यान दिया है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि ''हिन्दी दलित लेखन में दलित स्त्रियों की अनुपस्थिति को समझने के लिए पूरे हिन्दी साहित्य और भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति को समझना जरूरी है। अभी तो पूरे हिन्दी साहित्य में स्त्री लेखन हाशिये पर है और वह मुख्य धारा में अपनी जगह बनाने के लिए संघर्ष कर रहा है। ऐसी दशा में दलित स्त्रियों के लेखन की उम्मीद कैसे की जा सकती है? मराठी में दलित–लेखन का विकास बहुत हुआ है, पर वहां भी दलित स्त्री लेखन बहुत अधिक उभरकर सामने नहीं आया। अभी तो दलित समुदाय के पुरुषों के बीच ही शिक्षा का व्यापक–प्रचार नहीं हुआ है, तब दलित स्त्री के शिक्षित होने और आगे जाकर लेखन करने की बात सहज कैसे हो सकती है।''[5] भारतीय समाज में जो पुरुष प्रभुत्व की प्रवृत्ति है, उसका असर दलित समाज में भी है। यह

सही है कि दलित स्त्रियां काम और श्रम से जुड़ी होने के कारण सवर्ण स्त्रियों से अधिक स्वतंत्र होती हैं, लेकिन उन्हें भी पुरुष की अधिकार भावना का शिकार होना पड़ता है। सच तो यह है कि दलित स्त्री दलितों में भी दलित है।

हिन्दी के दलित लेखन में रचनाशील स्त्रियों की अनुपस्थिति को समझने के लिए भारतीय समाज और दलित समाज में स्त्रियों की दशा जानना जरूरी है। अभी तो हिन्दी साहित्य में भी स्त्री लेखन हाशिये पर ही है और वह मुख्य धारा में अनी जगह बनाने के लिए संघर्ष कर रहा है। ऐसी दशा में दलित स्त्रियों के लेखन की उम्मीद कैसे की जा सकती है? मराठी में जहां दलित लेखन का बहुत विकास हुआ है, वहां भी दलित स्त्रियों का लेखन अधिक नहीं है। हिन्दी क्षेत्र में दलितों की कठिन जिन्दगी के सन्दर्भ में अगर आप दलित स्त्री की जिन्दगी पर विचार करें तो वह पुरुष की जिन्दगी से ज्यादा कठिन और यातनाओं से भरी हुई मिलेगी। भारतीय समाज में स्त्रियों की गुलामी और पुरुषों के प्रभुत्व की जो प्रवृत्ति है, उसका असर दलित समाज पर भी है। दलित स्त्रियों को अनेक रूपों में पुरुषों की अधिकार भावना का शिकार होना पड़ता है।

भारतीय समाज में प्रायः सच कहने का साहस नहीं है और सच सुनने की आदत तो और भी नहीं है। दलित लेखिका सुशीला टाकभौंरे ने अपनी आत्मकथा में इस ओर इशारा किया है। विचार की बात यह है कि ऐसा क्यों है–पहला कारण तो यही लगता है और दलित आत्मकथाओं के लेखक भी ऐसा ही कहते हैं कि आत्मकथा में ही दलित जीवन की यातना का प्रामाणिक लेखक होता है। दूसरा कारण यह बताया जाता है कि आत्मकथा सहानुभूति के बदले स्वानुभूति की देन है क्योंकि दलित जीवन पर अच्छी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक तो गैर दलित भी लिख सकते हैं, लेकिन आत्मकथा तो दलित लेखक ही लिख सकता है। तीसरा कारण यह कहा जाता है कि दलित अस्मिता की सच्ची और पूरी अभिव्यक्ति आत्मकथा में ही सम्भव होती है। चौथा कारण यह बताया जाता है कि दलित साहित्य को आत्मकथाओं ने ही विशिष्ट बनाया है। पांचवा कारण यह भी कहा जाता है कि दलित आत्मकथाएं व्यक्ति जागरण के साथ–साथ दलित समुदाय के जागरण की भी घोषणापत्र हैं। ये सब बातें कमोबेश ठीक हैं, पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि आत्मकथा की सीमा लेखक के व्यक्तित्व की सीमा से तय होती है। इसलिए अछूतानन्द, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु और डॉ. अम्बेडकर की आत्मकथाएं, जितनी प्रेरणादायक और जागरण पैदा करने वाली होंगी, वैसी हर दलित लेखक की नहीं हो सकती।

दलित लेखिका सुशीला टाकभौरे अपने संघर्ष, प्रत्यत्न, बौद्धिकता और समझदारी से जिस स्थिति में पहुंची हैं, उसकी समझ उन्हें आरम्भ में ही मिली दिखायी देती है। उनको आरम्भ में ही टांट्या भील के विद्रोह की पहचान हो गयी थी। उन्होंने लिखा है कि ''बचपन में मैंने टांट्या भील की कहानी सुनी। लोग कहते थे कि अंग्रेजों के शासनकाल में वह बेईमान धनवानों को लूटकर उनका धन गरीबों में बांट देता था। पिछड़े, अछूत और आदिवासी उसका एहसान मानते हुए उसे भगवान मानते थे। टांट्या भील ने गरीबों, आदिवासियों के लिए देश के शासक अत्याचारियों से स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी थी।''[6] सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि 'गरीब, अछूत होने के साथ लड़की होना दोहरे संताप की बात है। अछूत की बेटियां दुर्घटनाओं का सामना करती रही हैं। दलित स्त्रियां जीवन का संताप सदियों से भोग रही हैं। असल में दलित स्त्रियों को जीवन एक साथ दो अभिशापों का सामना करना होता है, एक तो दलित होने का अभिशाप और दूसरा स्त्री होने का अभिशाप। सम्भवतः इसीलिए कौशल्या बैसत्री ने अपनी आत्मकथा को 'दोहरा अभिशाप' नाम दिया। सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा के नाम 'शिकंजे के दर्द' का कारण बताते हुए कहती हैं कि जिस तरह किसी ताकतवर को शिकंजें में जकड़कर उसकी पूरी ताकत को नगण्य बना दिया जाता है, उसी तरह मुझे भी सामाजिक जीवन की मनुवादी विषमता ने वर्णवादी, जातिवादी समाज व्यवस्था ने शिकंजे में जकड़कर रखा, जिसका परिणाम पीड़ा–दर्द, छटपटाहट के सिवाय कुछ नहीं है। सुशीला टाकभौरे कहती हैं कि ''दलित महिला उत्पीड़न चाहे घर में अपनों द्वारा हो या बाहर सवर्ण गैर पुरुषों द्वारा, महिला उत्पीड़न की बातों को पुरुष भी छिपाते हैं, महिलाएं भी छिपाती हैं परिवार समाज में सभी छिपाते हैं। ये बातें अधिकतर उजागर नहीं होने के कारण महिलाएं अधिक कष्ट और उत्पीड़न का जीवन जीती है। दलित उत्पीड़न के रूप में भी दलित पुरुषों की

अपेक्षा दलित नारी वर्ण भेद, जातिभेद के अपमान–तिरस्कार के साथ अन्याय, शोषण आदि अधिक सहती हैं। मेरा जीवन इसी दोहरे–तीहरे संताप से पीड़ित रहा।''[7] भारतीय हिन्दू समाज व्यवस्था का स्थायी भाव है–भेदभाव। यह भेदभाव बहुस्तरीय है और बहुरूपी भी है। इस भेदभाव का सबसे अधिक दुष्प्रभाव दलित स्त्रियों को भोगना पड़ता है। इसके कारण 'शिकंजे के दर्द' में जगह–जगह मौजूद हैं। सुशीला टाकभौरे ने इस आत्मकथा में गालियों के सामाजिक अर्थ और महत्व को भी स्पष्ट किया है। गालियां प्रायः कमजोर का हथियार हुआ करती हैं। सुशीला ने लिखा है कि 'ये सताए हुए लोग अपने शोषकों को इसी तरह गालियां देते हैं। सुशीला टाकभौंरे की नानी भगवान को जो गालियां देती थीं, उसका ब्यौरा भी उन्होंने स्पष्ट दिया है। दलित स्त्रीवाद निश्चित रूप से दलित साहित्य में उसी तरह से एक नयी बहस है, जैसे हिन्दी साहित्य में स्त्रीवाद एक नयी प्रवृत्ति आौर एक नयी बहास है।

वैसे तो सारी दुनिया के समाज के इतिहास के विकास के क्रम में स्त्रियां क्रमशः पुरुषों के अधीन होती गयी हैं और उनकी पराधीनता से जुड़ी यातनाएं बढ़ती गयीं। सारे संसार में सामन्तवाद के दौर में स्त्रियों की पराधीनता और यातना भयावह स्थितियों में पहुंच गयी थी। यद्यपि मानव समाज के इतिहास की यह जानी पहचानी विशेषता है कि पराधीनता विद्रोह की चेतना पैदा करती है। इसलिए दुनिया के विभिन्न समाजों में आरम्भिक दौर से ही जहां–तहां स्त्रियों ने अपनी पराधीनता से विद्रोह करते हुए स्वाधीनता की आकांक्षा साहित्य में प्रकट की है, लेकिन आधुनिक काल में दुनिया भर में स्वाधीनता की आकांक्षाएं और कोशिशें अधिक सजग, सघन और संगठित रूप सें सामने आने लगी हैं। हिन्दी के दलित साहित्य में जो स्त्रीवादी चेतना और स्वर का उभार है, वह उतना ही आवश्यक है, जितना सम्पूर्ण दलित साहित्यं सम्पूर्ण दलित समाज की सामूहिक मुक्ति के बारे में जो भी चिंता करेगा, वह दलित स्त्रियों के दोहरे अभिशाप से उत्पन्न यातनाओं को भूल नहीं सकता। इसलिए दलित साहित्य में स्त्रीवादी विमर्श का उदय और विकास एक स्वागत योग्य कदम है। जहां–तहां कुछ यह भी देखने में आया है कि दलित लेखक दलित साहित्य में स्त्रीवादी विमर्श को संदेह से देखते हैं। संक्षेप में, आधुनिकता के दर्पण में दलित स्त्रियों की पांच मुख्य चुनौतियां है–आधुनिकता को सही अर्थों में समझना, बाजारवाद के दुष्परिणमों को समझना, पुरुषसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था को समझना और उनसे संघर्ष करना, इतिहास में परिवर्तन के साथ नये युग के आगमन का स्वागत करना। बाजार के सामने स्त्री का आत्मसमर्पण वस्तु से पूंजी में परिवर्तन किसी दबाव का परिणाम नहीं, बल्कि यह स्त्री के स्वयं को निर्णय है। पूंजी बनने का निर्णय स्त्री की स्वेच्छा से लिया गया निर्णय है। इन स्थितियों को भी दलित स्त्रियों को समझना होगा और अपनी परम्परागत छवि के दायरे को स्वयं ही तोड़ना होगा। यह कार्य पुरुषों के सहयोग से ही सम्भव है, उनके विरोध मात्र से नहीं।

सन्दर्भ ग्रंथ–सूची

1. रामकमल राय : हिन्दी अनुशीलन, अंक–2, पृष्ठ–102.
2. जगदीश्वर चतुर्वेदी : स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृष्ठ–182.
3. सीमा ओझा : आजकल, मई 2008, पृष्ठ–33.
4. डॉ. मैनेजर पाण्डेय : साहित्य और दलित दृष्टि, पृष्ठ–15.
5. डॉ. मैनेजर पाण्डेय : साहित्य और दलित दृष्टि, पृष्ठ–17.
6. सुशीला टाकभौरे : साहित्य और दलित दृष्टि–163.
7. सुशीला टाकभौरे : साहित्य और दलित दृष्टि–163.

ISARA INSTITUTE OF MANAGEMENT & PROFESSIONAL STUDIES

WWW.IIMPS.IN

EARN YOUR

MBA

Accreditation & Ranking

UGC / NCTE Approved.

INFO@IIMPS.IN

011-41005174

RESEARCH GATEWAY

STOP PLAGIARISM

1 Submit your content in Word File.

2 Get report in 48 hrs.

3 *Missing content or references will be fixed.

4 Citation for your work.

5 Get accurate user friendly report.

researchgateway.in | info@researchgateway.in

+91-9205579779

AROGYAM ONLINE

Arogyam Ayurveda

Holistic Healing through herbs

100% NATURAL

PARIVARTAN PSYCHOLOGY CENTER

COLOR PSYCHOLOGY : HOW COLOR AFFECT YOUR CHILD

BLUE — Calms your Child's Mind & Body

YELLOW — Promotes Concentration, Stimulates the Memory

PINK — Evokes Empathy, makes your Child Calm

RED — Excites and energizes your Child's body

GREEN — Improves Reading speed and Comprehension

www.parivartan4u.com

Confuse about your children's future?

भारतीय भाषा, शिक्षा, साहित्य एवं शोध

ISSN 2321 – 9726

WWW.BHARTIYASHODH.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT SCIENCE & TECHNOLOGY

ISSN – 2250 – 1959 (0) 2348 – 9367 (P)

WWW.IRJMST.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF COMMERCE, ARTS AND SCIENCE

ISSN 2319 – 9202

WWW.CASIRJ.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT SOCIOLOGY & HUMANITIES

ISSN 2277 – 9809 (0) 2348 - 9359 (P)

WWW.IRJMSH.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF SCIENCE ENGINEERING AND TECHNOLOGY

ISSN 2454-3195 (online)

WWW.RJSET.COM

INTEGRATED RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT, SCIENCE AND INNOVATION

ISSN 2582-5445

WWW.IRJMSI.COM

JOURNAL OF LEGAL STUDIES,POLITICS AND ECONOMICS RESEARCH

WWW.JLPER.COM